

जैन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में वर्तमान आहार-विहार

आचार्य राजकुमार जैन

भारतीय चिकित्सा परिषद्, नई दिल्ली

प्रगतिशील कहे जाने वाले वर्तमान वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी युग में आज मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी अधिक हैं। इसी प्रकार मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों का आकर्षण केन्द्र वर्तमान में जितना अधिक भौतिकवाद है, उतना अध्यात्मवाद नहीं है। यही कारण है कि आज का मनुष्य भौतिक नश्वर सुखों में ही यथार्थ सुख की अनुभूति करता है, जिसमें अन्तिम परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वर्तमान में किया जा रहा सतत चिन्तन, अनुभूति की गहराई, अनुशीलन की परम्परा और तीव्रगामी विचार प्रवाह—सब मिलकर भौतिकवाद के विशाल समुद्र में इस प्रकार विलीन हो गए हैं कि जिससे अन्तर्जगत की समस्त प्रवृत्तियाँ अवरुद्ध हो गई हैं। इसका एक यह परिणाम अवश्य हुआ है कि वर्तमान मनुष्य समाज की अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हुई हैं, जिससे सम्पूर्ण विश्व में एक अमूल्यपूर्ण भौतिकवादी वैज्ञानिक क्रान्ति का प्रसार लक्षित हो रहा है। इस वैज्ञानिक क्रान्ति ने जहाँ धर्म और समाज को प्रभावित किया है, वहाँ मनुष्य जीवन का कोई भी अंश उसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। यही कारण है कि मनुष्य के आचार विचार एवं आहार-विहार में आज अपेक्षाकृत परिवर्तन दिखलाई पड़ रहा है। आज मनुष्य पुरानी परम्पराओं का पालन करते हुए स्वयं रूढ़िवादी कहलाना पसन्द नहीं करता है, क्योंकि हमारी प्राचीन परम्पराएँ आज रूढ़िवादी का पर्याय बन चुकी हैं। इस परिस्थिति ने हमारे आहार-विहार तथा आचार-विचार को भी अछूता नहीं रखा। इसी सन्दर्भ में हमें अपने वर्तमान खान-पान एवं आचरण को देखना परखना है।

जैनधर्म में मनुष्य के आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया है। जब तक मनुष्य अपने आचरण को शुद्ध नहीं बनाता, तब तक उसका शारीरिक विकास महत्वहीन एवं अनुपयोगी है। मनुष्य के आचरण का पर्याप्त प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। विपरीत आचरण या अशुद्ध आचरण मानव स्वास्थ्य को उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार उसका आहार विहार। आचरण से अमिप्राय यहाँ दोनों प्रकार के आचरण से है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक आचरण शरीर को और मानसिक आचरण मन को तो प्रभावित करता ही है, साथ में शारीरिक आचरण मन को और मानसिक आचरण शरीर को भी प्रभावित करता है। इन दोनों आचरणों से मनुष्य की आत्म-शक्ति भी निश्चित रूप से प्रभावित होती है। आचरण की शुद्धता आत्मशक्ति को बढ़ाने वाली और आचरण की अशुद्धता आत्मशक्ति का ह्रास करने वाली होती है। इसका स्पष्ट प्रभाव मुनिजन, योगी, उत्तम साधु और संन्यासियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे गृहस्थ श्रावकों में भी आत्मशक्ति की वृद्धि का प्रभाव दृष्टिगत हुआ है जिन्होंने अपने जीवन में आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया। ऐसे सन्त पुरुषों में महान आध्यात्मिक सन्त पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी आदि तथा गृहस्थ जीवन यापन करने वालों में महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, गुरु गोपालदास जी बरैया, पं० जैन सुखदास जी न्यायतीर्थ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जैनधर्म का महत्व आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से है। चिकित्सा की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है और न ही जैनधर्म में चिकित्सा के कोई निर्देशक सिद्धान्त निरूपित हैं। किन्तु चिकित्सा का सम्बन्ध मानव स्वास्थ्य से

है और स्वास्थ्य की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्त जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। स्वास्थ्योपयोगी जैनधर्म के वे सिद्धान्त यद्यपि भले ही स्वास्थ्य की दृष्टि से वर्णित न किए गए हों, किन्तु मानव मात्र के लिए मानव शरीर की दोषों से रक्षा के निमित्त आध्यात्मिक शुद्धि हेतु प्रतिपादित वे नियम निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं। आध्यात्मिक शुद्धि एवं आत्म कल्याण की भावना से अभिभूत मनुष्य के लिए भले ही उसके शारीरिक स्वास्थ्य का कोई महत्व न हो, किन्तु एक गृहस्थ एवं श्रावक को तो शरीर की रक्षा का उपाय करना पड़ता है। जिस प्रकार अन्यान्य दोषों से आत्मा की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य है, उसी प्रकार रोगों से शरीर की रक्षा करना भी परम कर्तव्य है। शरीर की रक्षा के बिना अथवा स्वस्थ शरीर के बिना धर्म साधना सम्भव नहीं है। धर्म का अभिप्राय मानव जीवन की निष्क्रियता भी नहीं है कि धर्म के नाम पर मनुष्य स्वयं को समस्त लौकिक कर्मों से विरत कर ले, अपितु आचरण की शुद्धता एवं संयम पूर्ण जीवन ही वास्तविक धर्म है। जीवन की उपयोगिता शरीर के बिना नहीं है। अतः व्यवहारिक जीवन में शरीर की रक्षा करना तथा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य रक्षण हेतु सदैव सजग रहना मानव मात्र का परम कर्तव्य है। चारों ही पुरुषार्थ की सिद्धि शरीर के ही माध्यम से होती है और शरीर का स्वास्थ्य ही इनका मूल आधार है। आचार्यों के शब्दों में—“धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।”

यह महत्वपूर्ण तथ्य है जो आचार्यों की गहन दृष्टि का परिणाम है, लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से उपयोगी एवं सार्थक है। अतः अपने शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा हेतु सतत प्रयत्नशील रहना हमारा नैतिक दायित्व हो जाता है। शरीर के प्रति मोह नहीं रखना आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि शरीर की पूर्ण उपेक्षा की जाय। जानबूझ कर शरीर की उपेक्षा करना एक प्रकार का आत्मघात है और आत्मघात को शास्त्रों में सबसे बड़ा दोष माना गया है। अतः धर्म साधना हेतु आहार आदि के द्वारा शरीर का साधन करना तथा अहित विषयों से उसकी रक्षा करना और विकार एवं रोगों से उसे बचाना आवश्यक है। एकान्ततः शरीर की उपेक्षा करने का उल्लेख किसी शास्त्र में नहीं है। जैनधर्म में भी आत्म साधना के समक्ष शरीर को यद्यपि नगण्य माना गया है, किन्तु पूर्णतः उसकी उपेक्षा का निर्देश नहीं किया गया। अतः यावत् काल शरीर की आयु है, तावत् काल उसे स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ पर यह ध्यान रखने योग्य है कि शरीर को स्वस्थ रखना और उसे रोगों से बचाना एक भिन्न बात है और शरीर से मोह रखते हुए उसके माध्यम से भौतिक सुखों का उपयोग करना एक भिन्न बात है। जैनधर्म शरीर को भौतिक सुखों से विरत रखने का निर्देश तो देता है, किन्तु स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी सात्विक उपायों के सेवन का निषेध नहीं करता।

मानव शरीर के स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से तथा अहित विषयों में शरीर की प्रवृत्ति को रोकने के लिए जैनधर्म ने मनुष्य के दैनिक आचरण तथा उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो शारीरिक व मानसिक दृष्टि से तो उपयोगी हैं ही, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक विकास एवं सात्विक जीवन निर्वाह के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जैनधर्म में प्रतिपादित सिद्धान्त जहाँ मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग को प्रशस्त करते हैं, वहाँ लौकिक किंवा व्यावहारिक जीवन के उत्थान में भी सहायक होते हैं। सात्विक जीवन निर्वाह हेतु मनुष्य को प्रेरित करना उनका मुख्य लक्ष्य है। अतः स्वास्थ्य रक्षा एवं आरोग्य की दृष्टि से जैन धर्म आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अत्यन्त निकट है। जीवन की कसौटी पर कसे हुए सिद्धान्त विज्ञान की तुला में जब समानता प्राप्त कर लेते हैं, तो जीवनोपयोगी उन सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो जाता है। अतः मानव जीवन की सार्थकता का निर्वाह करने वाले, मन-वचन-कार्य में शुद्धता उत्पन्न करने वाले, सात्विक एवं मानवोचित विशुद्ध भावों का उद्भव करने वाले नियम और सिद्धान्त जब प्रकृति के संचि में ढल जाते हैं, तो स्वतः ही वैज्ञानिकता की परिधि में आ जाते हैं। उनकी पूर्णता ही वैज्ञानिकता है।

प्रकृति और विकार के सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्राणि संसार में मृत्यु ही प्रकृति है और जीवन विकार है। इस कथन की सार्थकता वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक है। लौकिक दृष्टि से विकार (जीवन) की प्रकृति आरोग्य है और आरोग्य का आधार शरीर है। शरीर का विनाश अवश्यमावी है। अतः उसका अन्तिम परिणाम मृत्यु है। निष्कर्ष रूपेण दृष्टि की मीनता होते हुए भी लक्ष्य केवल एक ही रहता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य साधन, शरीर रक्षा एवं आरोग्य लाभ के समन्वित लक्ष्य हेतु जैन धर्म एवं आधुनिक विकसित विज्ञान की पारस्परिक दूरी होते हुए भी आंशिक रूपेण ही सही, बहुत कुछ निकटता एवं पारस्परिक एकता अवश्य है।

व्यवहारिक जीवन में प्रयुक्त किये जाने वाले सामान्य नियम कितने उपयोगी और स्वास्थ्य के लिए हितकारी होते हैं, यह उनके आचरित करने के बाद मली भांति स्पष्ट हो जाता है। एक जैन गृहस्थ के यहाँ साधारणतः इसका तो ध्यान रखा ही जाता है कि वह जल का उपयोग छानकर करे, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करे, यथासम्भव गड़न्त वस्तुओं (आलू, अरबी, आदि) का उपयोग न करे, मद्यपान, धूम्रपान आदि व्यसनों का सेवन न करे, जो वस्तुएँ दूषित या मलिन हों और जिनमें जन्तु आदि उत्पन्न हो गए हों, उनका सेवन न करे इत्यादि। स्वयं को अत्यधिक प्रगतिशील कहने वाले व्यक्ति भले ही जैन धर्म के उपर्युक्त नियमों को रूढ़िवादी, धर्मान्धतापूर्ण, थोथे एवं निरुपयोगी कहें, किन्तु स्वास्थ्य के लिए उनकी उपयोगिता को वैज्ञानिक आधार पर अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। जो नियम जीवन को सात्विकता की ओर ले जाकर जीवन ऊँचा उठाने वाले हों, शरीर की रक्षा और स्वास्थ्य का सम्पादन करने वाले हों, वे नियम केवल इसी आधार पर अवहेलना किए जाने योग्य नहीं हैं कि धार्मिक या सात्विक दृष्टि से ही उनका महत्व है।

आधुनिक विज्ञान के प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि जल में अनेक सूक्ष्म जीव एवं अनेक अशुद्धियाँ होती हैं। अतः जल को शुद्ध करने के पश्चात् ही उसका उपयोग करना चाहिये। जल को कुछ भौतिक अशुद्धियाँ तो बल्ल से छानने के बाद दूर हो जाती हैं, कुछ जीव भी इस प्रक्रिया द्वारा जल से पृथक् किये जा सकते हैं। अतः काफी अंशों में जल की अशुद्धि छानने मात्र से दूर हो जाती है और कुछ समय के लिए जल शुद्ध हो जाता है। किन्तु जल की शुद्धि वस्तुतः जल को उबालने से होती है। छने हुए जल को अग्नि पर उबालने से जलगत सभी प्रकार की अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं और जल पूर्ण शुद्ध होकर निर्मल बन जाता है। जैन धर्म मानव शरीर को जल सम्बन्धी समस्त दोषों से बचाने और शरीर को निरोग रखने की दृष्टि से शुद्ध, ताजे, छने हुए और यथासम्भव उबाल कर ठण्डा किए हुए जल के सेवन का निर्देश देता है। क्या इस निर्देश और नियम की व्यवहारिकता अथवा उपयोगिता को अस्वीकार किया जा सकता है ?

गृहस्थ के व्यावहारिक जीवन को उन्नत बनाने हेतु तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शुद्ध ताजे और निर्दोष भोजन की उपयोगिता स्वास्थ्य विज्ञान द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। मानव जीवन एवं मानव शरीर को स्वस्थ, सुन्दर व निरोग रखने के लिए तथा आयु पर्यन्त शरीर की रक्षा के लिए निर्दुष्ट, परिमित, समुचित एवं सात्विक आहार ही सेवनीय होता है। आहार में कोई भी वस्तु ऐसी न हो जो स्वास्थ्य के लिए अहितकर अथवा रोगोत्पादक हो। अतः सदैव शुद्ध और ताजा भोजन ही हितकर होता है। आहार सम्बन्धी विधि विधान के अनुसार उचित समय पर भोजन करने का बड़ा महत्व है। जो लोग समय पर भोजन नहीं करते, वे अक्सर आहार एवं उदर सम्बन्धी व्याधियों से पीड़ित रहते हैं। आहार (भोजन) के समय के विषय में जैन धर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह तो निर्देशित नहीं किया गया है कि मनुष्य को भोजन किस समय कितने बजे तक कर लेना चाहिए, किन्तु उसकी मान्यता एवं दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य को सूर्यास्त के पश्चात् अर्थात् रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। इसका धार्मिक महत्व तो यह है ही कि रात्रिकाल में भोजन करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, किन्तु इसका

वैज्ञानिक महत्व एवं आधार यह है कि हमारे आसपास के वातावरण में अनेक ऐसे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं जो दिन में सूर्य की किरणों से नष्ट हो जाते हैं। रात्रि में सूर्य किरणों के अभाव में वे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं और वे हमारे भोजन को दूषित, मलिन व विषमय कर देते हैं। वे भोजन के माध्यम से हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर में विकृति उत्पन्न कर देते हैं।

दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वास्थ्य विज्ञान एवं आहार पाचन सम्बन्धी नियमानुसार हम जो आहार ग्रहण करते हैं, वह मुख से, गले के मार्ग द्वारा सर्वप्रथम आमाशय में पहुँचता है, जहाँ उसकी वास्तविक परिपाक क्रिया प्रारम्भ होती है। परिपाक हेतु वह आहार आमाशय में लगभग चार घण्टे तक अवस्थित रहता है। उसके बाद ही वह आमाशय से नीचे क्षुद्रान्त में पहुँचता है। इसका अन्तिम प्राय यह हुआ कि जब तक भोजन आमाशय में रहता है तब तक मनुष्य को जाग्रत एवं क्रियाशील रहना चाहिए। मनुष्य की जाग्रत एवं क्रियाशील अवस्था में ही आमाशय की क्रिया पूर्णतः संचालित रहती है। मनुष्य की सुषुप्त अवस्था में आमाशय की क्रिया मन्द हो जाती है जिससे भुक्त आहार के पाचन में बाधा एवं विलम्ब होता है। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपने रात्रि कालीन शयन से लगभग ४-५ घण्टे पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए, ताकि उसके शयन करने के समय तक उसके भुक्त आहार का विधिवत् सम्यक् पाक हो जावे। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सायंकाल ६ बजे या उसके कुछ पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए। क्योंकि मनुष्य के शयन का समय सामान्यतः रात्रि को १० बजे या उसके आसपास होता है। अतः जैन धर्म का यह दृष्टिकोण महत्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक आधार लिए हुए है।

इसी प्रकार जब वह सायंकाल ६ बजे या उसके आसपास भोजन करता है तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार दो भोजन कालों का अन्तर सामान्यतः न्यूनातिन्यून आठ घण्टे का होना चाहिए। इसका अन्तिम प्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति सायंकाल ६ बजे भोजन करना चाहता है, उसे आवश्यक रूप से प्रातःकाल १० बजे या उसके आसपास भोजन कर लेना चाहिए। जो व्यक्ति प्रातः १० बजे भोजन करता है, वह स्वाभाविक रूप से सायंकाल ६ बजे तक बुभुक्षित हो जायगा। अतः स्वास्थ्य के नियमों में ढला हुआ और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाला जैन धर्म के द्वारा प्रतिपादित आहार सम्बन्धी नियम न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का विकास करने वाला है, अपितु उसके स्वास्थ्य की रक्षा करता हुआ मानव शरीर को निरोग बनाने वाला और उसे दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है।

आहार सेवन के क्रम में शुद्ध एवं सात्विक आहार के सेवन को विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार का आहार शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा में तो सहायक है ही, इससे मानसिक परिणामों की विशुद्धता भी होती है। दूषित, मलिन एवं तामसिक आहार स्वास्थ्य के लिए अहितकारी और मानसिक विकार उत्पन्न करने वाला होता है। कई बार तो यहाँ तक देखा गया है कि आहार के कारण मनुष्य शारीरिक रूप से स्वस्थ होता हुआ भी मानसिक रूप से अस्वस्थ होता है और जब तक उसके आहार में समुचित परिवर्तन नहीं किया जाता तक तक उसके मानसिक विकार का उपशम भी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि जैनधर्म में सभी कन्दमूल अमक्ष्य बतलाए गए हैं और किसी भी रूप में उन्हें सेवन योग्य नहीं माना गया है। इसके पीछे धार्मिक मान्यता यह है कि सभी कन्द मूल में अनन्तकाय जीव विद्यमान रहते हैं। उनको कच्चा खाने में उन जीवों का घात होता है। इससे उन्हें खाने वाला व्यक्ति हिंसा का भागी होता है। धार्मिक दृष्टि से यह बात उपादेय हो सकती है, क्योंकि वहाँ जीवों के प्रति दया भाव रखना और उनका घात नहीं होने देना मुख्य लक्ष्य है। किन्तु क्या यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक माना जा सकता है? विशेष रूप से उस समय जब कि औषध रूप में उनमें से किसी द्रव्य का सेवन अपरिहार्य हो। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन धर्म में

धार्मिक दृष्टि से जो द्रव्य असेध्य एवं अमक्ष्य बतलाए गए हैं, आयुर्वेद में उन्होंने द्रव्यों का सेवन स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी बतलाया गया है। वे द्रव्य स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से तो उपयोगी होते ही हैं, उनके सेवन से शरीर में रोग-प्रतिरोध क्षमता उत्पन्न होती है जिससे अनेक व्याधियाँ उत्पन्न ही नहीं हो पाती।

कौन से कच्चे वानस्पतिक शाक द्रव्य भक्षण योग्य नहीं है, उनका उल्लेख निम्न श्लोक में मिलता है :

अल्पफलम्बहुविधातान्मूलकमाद्राणि शृंगवेराणि ।

नवनीतनिम्बुकुसुमं कैतकामत्थेवमवहेयम् ॥

अर्थात् अल्पफल और बहुविधात के कारण (अप्रासुक) मूलक-मूली-गाजर आदि, आर्द्र शृंगवेर (अदरक) आदि, नवनीत-मक्खन, नीम के फूल, कैतकी के फूल आदि द्रव्य तथा इसी प्रकार के अन्य द्रव्य त्याज्य हैं।

यहाँ “मूलक” पद मूल मात्र का द्योतक है जिसमें गाजर, मूल, शलजम, आलू, प्याज, शकरकन्द, जमीकन्द आदि खाए जाने वाले कन्दों तथा अन्य वनस्पतियों की जड़ों का समावेश होता है। शृंगवेरादिपद में अदरक के अतिरिक्त हरिद्रा (हल्दी) आदि ऐसे कन्द सम्मिलित हैं जो अपने अंग पर किञ्चित उभार लिए हुए होते हैं और उपलक्षण से उनमें ऐसे द्रव्यों का भी ग्रहण हो जाता है जो शृंग को माँति उभार युक्त तो न हो, किन्तु अनन्त काय-अनन्त जीवों के आश्रय भूत हों। बीच में “आर्द्राणि” पद अपना विशेष महत्व रखता है जो अपने अर्थ से मूलक और शृंगवेर दोनों पदों को अनुप्राणित करता है, जिसका सामान्य अभिप्राय यह है कि ऐसे मूल कन्द आदि द्रव्य जो सामान्यतः गोले, हरे और अशुष्क हों। किन्तु विशिष्टार्थ को दृष्टि से सजीव या जीव सहित द्रव्य ग्राह्य हैं जो सचित्त एवं अप्रासुक कहलाते हैं। ऐसे द्रव्य जब तक अपक्व (अनग्निपक्व) होते हैं, तब तक वे सचित्त एवं अप्रासुक होते हैं, अतः वे खाने योग्य नहीं होते हैं। जिन द्रव्यों को अग्नि पर अच्छी तरह से पका लिया जाता है, वे जीव रहित होने से अचित्त हो जाते हैं, अतः प्रासुक हो जाते हैं। इसीलिए प्रासुक के भक्षण में कोई दोष या पाप नहीं लगता है।

जैनधर्म में कन्द मूल आदि सचित्त वानस्पतिक शाक द्रव्यों के सेवन का सर्वथा निषेध हो, ऐसी भी बात नहीं है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने ‘रत्नकरण्ड श्रावकाचार’ में कच्चे द्रव्यों के सेवन में पाप दोष बतलाया है क्योंकि वे सचित्त (जीव सहित) होते हैं, किन्तु यदि उन्हें उबाल कर जीव रहित याने अचित्त बना लिया जाता है, तो उनके सेवन में कोई दोष नहीं है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का निम्न श्लोक यही भाव व्यक्त करता है :

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि ।

नाऽऽमानि सोऽस्ति तोऽयं सचित्त विरतो दयामूर्तिः ॥

यहाँ “आमानि” पद अपक्व एवं अप्रासुक अर्थ का द्योतक है। “न अस्ति” पद भक्षण के निषेध का वाचक है। यदि उन द्रव्यों को अग्नि में पका कर प्रासुक कर लिया जाता है, तो उनके सेवन में कोई दोष नहीं है, क्योंकि ग्रन्थाकार ने “प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः” कह कर गृहस्थों की एक बड़ी समस्या का समाधान कर दिया है।

वर्तमान समय में अदरक, आलू, प्याज, गोभी, अरबी, गाजर, मूली आदि अनेक ऐसे वानस्पतिक द्रव्य हैं जो हमारे दैनिक भोजन में शाक के अनिवार्य अंग हैं। उनके बिना वर्तमान में शाक की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इनमें प्याज और आलू का प्रयोग इतना अधिक सामान्य है कि इनके उपयोग के बिना स्वादिष्ट साग की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये सभी ऋतुओं में सभी समय सर्व सुलभ हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से इनके औषधीय गुण धर्म को देखें :

रसोन (लहसुन)

रसोन उष्णः कटुपिच्छिलश्च स्निग्धो गुरुः स्वादुरसोऽतिबल्यः ।
 वृष्यश्च मेघास्वरचक्षु भग्नास्थिसन्धानकरः सुतीक्ष्णः ॥
 हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षि शूलविबन्धगुल्मारुचि कृच्छ्रशोफान् ।
 दुर्नामिकुष्ठानलसादजन्तु कफामयान् हन्ति महारसोनः ॥

रसोन उष्ण वीर्य वाला, कटु रस वाला, पिच्छिल, स्निग्ध और गुरु गुणवाला, मधुर रस वाला, अति बल कारक, पुष्टिकारक, मेघा-स्वर और चक्षु, के लिए हितकारी, भग्नास्थि का संधान करने वाला और अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। यह रसोन हृदय रोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल, विबन्ध (कब्ज), गुल्म, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, शोफ, अर्श, कुष्ठ, मन्दाग्नि, कृमिरोग और कफ जनित विकारों का नाश करता है। व्यवहार में देखा गया है कि यह वात जनित विकारों (जैसे आमवात, जोड़ों का दर्द, पेट में अफरा होना, गैस की शिकायत आदि) में विशेष लाभकारी होता है।

पलाण्डु (प्याज)

पलाण्डुस्त्वदगुणैर्न्यूनो विपाके मधुरस्तु सः ।
 कफं करोति नो पित्तं केवलो निलनाशनः ॥

पलाण्डु रसोन के गुणों से अल्प गुण वाला होता है। यह विपाक में मधुर रस वाला, कफ की वृद्धि करने वाला, पित्त के प्रति उदासीन, केवल वायु नाशक होता है।

गाजर

गर्जरं मधुरं रुच्यं किञ्चित्कटु कफापहम् ।
 आध्मानकृमिशूलघ्नं दाहपित्त ज्वरापहम् ॥

गाजर मधुर एवं किञ्चित् कटु (चरपरा) रस वाली होती है। यह रुचि कारक, कफ का शमन करने वाला, आध्यमान् (अफरा), कृमि, (पेट में कोड़े) और शूल का नाश करने वाला, दाह, पित्त, और ज्वर को दूर करने वाला होता है।

मूली

मूलकं गुरु विष्टम्भी तीक्ष्णमामत्रिदोषुनुत् ।
 तदेव स्विन्नं स्निग्धं च कटूष्णं कफवातनुत् ॥
 त्रिदोष शमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु ॥

मूली गुण में गुरु, विष्टम्भी (मलावरोधक) और तीक्ष्ण होती है। यह आम दोष तथा त्रिदोष (वात, पित्त एवं कफ) नाशक है। वही मूली उबाल कर सेवन करने पर स्निग्ध, कटु, रस और उष्ण गुण वाली, कफ एवं वायु नाशक होती है। शुष्क मूली त्रिदोष का शमन करने वाली, विष दोष नाशक और लघु होती है।

अदरक

कफानिलहरं स्वयं विबन्धानाहशूल जित ।
 कटूष्णं रोचनं वृष्यं हृद्यं चैवाऽऽर्द्रकं स्मृतम् ॥

अदरक कफ एवं वात का शमन करने वाला, स्वर के लिए हितकारी, विबन्ध (कब्ज), अहाँह (आफरा) और शूल का नाश करने वाला, कटु रस वाला, उष्ण गुण वाला, रुचिकारक, वृष्य (पुष्टि कारक) एवं हृदय के लिए हितकारी होता है ।

सोंठ

स्निग्धोष्णा कटुका शुण्ठी वृष्या शोफ कफारुचीन् ।
हन्ति वातोदरश्वास पाण्डु श्लीपदनाशिनी ॥

सोंठ स्निग्ध गुणवाली, उष्ण वीर्य वाली, कटु रस वाली वृष्या (पुष्टि कारक), शोफ, कफ और अरुचि, वातोदर, श्वास, पाण्डु और श्लीपद रोग का नाश करने वाली होती है ।

होंग

हिगूष्णं कटुकं हृद्यं सरं वातकफौ कृमीन् ।
हन्ति गुल्मोदराध्मानबन्धशूलहृदामयान् ॥

होंग उष्ण वीर्य वाली, कटु रस वाली, हृदय के लिये बल कारक, मल निःसारक, वात-कफ और कृमि नाशक होती है । यह गुल्म उदर रोग, आध्मान, बन्ध (कब्ज), शूल और हृदय के रोगों का नाश करती है ।

इस प्रकार उपर्युक्त द्रव्य औषधीय गुणों से सम्पन्न होते हैं जो शरीर में आवश्यक तत्वों की पूर्ति तो करते ही हैं, अनेक प्रकार के रोगों का नाश करने में भी सहायक हैं । ये धार्मिक दृष्टि से त्याज्य होते हुए भी स्वास्थ्य की दृष्टि से ग्राह्य एवं उपादेय हैं । वैसे भी श्री समन्तमद्र स्वामी ने इन द्रव्यों के सेवन-ग्रहण का पूर्णतः निषेध नहीं किया है । केवल अपक्व कच्चे रूप में इनका सेवन नहीं करना चाहिये (आमानि न अत्ति) । यदि उन्हें अग्नि पक्व कर लिया जाय, तो जीव रहित एवं निर्दोष हो जाते हैं । प्रामुक्त द्रव्यों का सेवन वर्ज्य नहीं है, अतः गृहस्थ श्रावक जीवों के घात (संकल्पी हिंसा) से बचते हुए अपने आहार विहार को शुद्ध एवं सात्विक रखें, यह धर्मशास्त्र सम्मत है ।